

उपसंहार

आत्म निवेदन का सीधा संबंध अन्तःकरण के आयतन से है। इस तरह की रचनाओं में आत्मसंवाद झलकता है। यह देखने की जरूरत है कि — “उनमें जो ‘मैं’ है अर्थात् कवि के अन्तःकरण का आयतन क्या है? एक ओर उस ‘मैं’ का समाज से क्या रिश्ता है। ‘मैं’ कितना सामाजिक है? साथ ही वह अन्तर्मुखी होते हुए आत्मविश्लेषण करने में कितना सक्षम है? और उसके जो अन्तर्द्वन्द्व हैं, उनमें कितना गहराई तक वह जा सकता है तथा कितना निर्भय होकर के आत्मसमीक्षा कर सकता है” (नामवर सिंह, कृति ओर, अंक-1, पृष्ठ-17)। इस ‘मैं’ की प्रकृति, घनत्व और आत्मविस्तार की कसौटी पर ही किसी कवि की विनयभावना का महत्त्व समझा जा सकता है। तुलसीदास का ‘हैं’ और निराला का ‘मैं’ इस ‘कनक-कसौटी’ पर खरा उतरता है। विस्तार और गहराई की यही अनुभूति तुलसीदास और निराला को समानधर्मा बनाती है। व्यक्तित्व के स्तर पर भी दैन्य और स्वाभिमान की युगपत् अभिव्यक्ति दोनों कवियों के यहाँ दिखाई पड़ती है।

‘विनय-पत्रिका’ और ‘अणिमा’ से ‘सान्ध्यकाकली’ तक की रचनाओं में अभिव्यक्त विनय-भावना कपोल कल्पना या आत्मप्रवंचना नहीं है। यह दोनों कवियों के जीवन की गाढ़ी कमाई और सर्जनात्मक उपलब्धि है। दार्शनिक स्तर पर जीवन-जगत के प्रति द्वन्द्वात्मक अन्तर्दृष्टि एवं ‘अखिल कारुणिक मंगल’ के प्रसार की कामना ने भक्ति का साधारणीकरण कर दिया है। तुलसीदास का ‘हैं’ एवं निराला का ‘मैं’ अपने समाज से अन्तःक्रिया करते हुए बना है। आत्ममुक्ति आत्मप्रसार की भावना से अविच्छिन्न है। दोनों की विनय-भावना का अंत न तो भाग्यवाद में होता है और न ही निराशा में। इस दृष्टि से ‘विनयपत्रिका’ का अंतिम पद और निराला की अंतिम रचना सहज तुलनीय है।

तुलसीदास के रचनाकर्म का प्रतिपक्ष ‘कलियुग’ है। निराला के प्रतिपक्ष को दूसरा कलियुग कहा जा सकता है। यह कलियुग अमूर्त शास्त्रीय अवधारणा न हो कर ठोस ऐतिहासिक भयावहता, संत्रास, मिथ्यापन और मूल्यहीनता है। तुलसीदास ‘विनय-पत्रिका’ में वर्णाश्रम का समर्थन और रामराज्य का गीत नहीं गाते हैं, अपितु ‘मही मोद-मंगल रितई है’ और ‘संसृति सन्निपात’ की पीड़ा से आकुल होकर राम की गुहार लगाते हैं। कई जगह अपनी चिंता छोड़ अपने आराध्य की चिंता में डूब जाते हैं। मध्यकालीन भावबोध की सीमा में यह मोहभंग है। अन्तः एवं बाह्य दोनों स्तरों पर परिव्याप्त यही कलियुग निराला के यहाँ ‘दिगम्बरी निराशा’ बनकर प्रकट हुआ है। निराला के पास आलम्बन का ‘अच्युत’ आधार नहीं है। यहाँ आकर ‘निराला निराले भक्त’ (जानकीवल्लभ शास्त्री, सम्मेलन पत्रिका, भाग-48, संख्या -2,3,4, पृष्ठ-455) हो जाते हैं। निराला का ‘आत्म’ वही नहीं है, जो किसी भक्तिकालीन कवि का है। ‘भक्ति भावना

ने भक्त कवियों के चित्त को सदैव संतुलित रखा। वहाँ गलदश्रु भावुकता की झलक भी कहीं-कहीं मिल जाती है, परन्तु उसमें भी एक प्रकार की मर्यादा है। भक्तों के यहाँ चित्त की अस्थिरता में भी स्थिरता है, विह्वलता में भी धैर्य है, आवेग में भी विवेक है, आत्मदुर्बलता में भी दृढ़ता है और संदेह में भी विश्वास है।" (नामवर सिंह— छायावाद, पृष्ठ-82)। कहना न होगा कि आत्माभिव्यक्ति की दृष्टि से तुलसीदास पूरे भक्तिकाल में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कवि हैं। उनकी परवर्ती रचनाओं में उनका धैर्य जवाब दे जाता है; लेकिन यह सामान्य विशेषता उनपर भी लागू होती है। दूसरी ओर निराला का 'आत्म' आधुनिक मनुष्य की नियति, जिसे दूधनाथ सिंह ने 'तर्कातीत आस्था से तर्काश्रित अनास्था' की विचार यात्रा कहा है, से जुड़ा है। इसलिए निराला के यहाँ 'उस पार' के प्रति जिज्ञासा तथा संशय और हार का साथ-साथ उल्लेख हुआ है।

मध्यकाल में जीवन-जगत के प्रति दृष्टिकोण में एक प्रकार की सह-स्थिति है। इसे आभ्यन्तर— "राम कबहुँ प्रिय लागिहौ जैसे नीर मीन को ? सुख जीवन ज्यों जीव को, मनि ज्यों फनिको हित, ज्यों धन लोभ-लीन को। ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को" (विनयपत्रिका, पद-269) एवं बाह्य—'तुलसिहिं बहुत भलो लागत जग-जीवन राम गुलाम को' (वही, पद-155) — दोनों स्तरों पर देखा जा सकता है। भारतवर्ष में औपनिवेशिक शासन के दौरान विभिन्न प्रक्रियाओं एवं संस्थाओं द्वारा आधुनिकीकरण की शुरुआत हुई। इसका एक प्रतिफलन द्विधात्मक मानसिकता के सृजन में हुआ। सार्वजनिक और निजी क्षेत्र के विभिन्न स्तरों पर इसे देखा जा सकता है। इससे संबंधित कुछ चर्चा द्वितीय अध्याय में की गई है। इस स्थिति में आत्मनिवेदन और आलम्बन का स्वरूप कैसा होगा? निराला की रचना—प्रकिया इस भावबोध से निर्मित हुई है। उनके यहाँ प्रकृति भी आलम्बन का एक रूप है और मृत्यु शरणागति का अंग। 'अर्चना' की भूमिका में कवि की यह द्विधा स्पष्ट रूप से सामने आती है। एक ओर 'सम्मति का फल निष्काम में' मानते हुए कवि का आग्रह है— 'भाव कुभाव अनख आलसहू। राम (?) जपत मंगल दिशि दसहू'; दूसरी ओर 'रसानुग्रहणलिप्सुओं' से 'श्रृंगार के लिए क्षमा' माँगते हुए 'चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीम्..... वयं शास्त्रान्वेषणमधुकर हतास्त्वं खलु कृती' का उल्लेख हुआ है। भक्तिकालीन कवि को इस क्षमायाचना की जरूरत नहीं है। निराला की यह समस्या उस समय और प्रत्यक्ष हो जाती है, जब वे किसी 'मटिने वाली' के नृत्य-गीत को वन्दना मानने का प्रयास करते हैं — 'गीत में गाथा तूने जो, क्या वन्दना' (सान्ध्यकाकली, पृष्ठ-84)। नृत्य और वन्दना में अविनाभाव स्थापित करने की यह चेष्टा द्विधा का ही प्रतीक है। निराला के विनयगीतों में परस्पर विरोधी स्थितियों को मिलाने की चेष्टा की गई है— 'निर्जर रथ' और 'रूपक के रथ', 'शतविध नामानुबन्ध' और 'कृष्ण कृष्ण राम राम। जपे हैं हजार नाम'। इस चेष्टा के पीछे वही द्विधा है जो कई जगह अस्पष्टता और अमूर्तता का स्वरूप ले लेती है।

तुलसीदास दार्शनिक कवि हैं। वे अपने समय में प्रचलित तमाम विचारधाराओं और शास्त्रीय अवधारणाओं का मूल्यांकन करते हैं। उनमें सामंजस्य बिटाते हैं। सामंजस्य की यह चेष्टा मुख्य रूप से 'श्रीरामचरितमानस' में है। 'विनयपत्रिका' में स्थिति दूसरी है। इसमें वे समस्त साधनों और विचारधाराओं को अपर्याप्त एवं असक्षम घोषित करते हैं। यहाँ निस्साधनता, अकेलेपन और निर्वासन का स्वर प्रमुख है। उनका यह स्वर प्रश्नवाचक मुद्रा में बार-बार प्रकट हुआ है— 'कहाँ जाऊँ, कासों कहीं, सुनै दीनकी। तुलसीदास की रचनात्मक यात्रा का यह पड़ाव आज भी मूल्यवान है। निराला की परवर्ती रचनाएं भी निस्साधनता, एकाकीपन और निर्वासन की पीड़ा को अभिव्यक्त करती हैं। अपने समय की विभिन्न विचारधाराओं की अपर्याप्तता की अभिव्यक्ति का स्वर 'कौन से जन कौन जीवन', 'नहीं ज्ञात रे कहाँ का ज्ञान' जैसी कई पंक्तियों में प्रकट हुआ है। तुलसीदास को अपने आराध्य राम की चिंता सता रही है — 'चिंता यह मोहिं अपारा। अपजस नहिं होइ तुम्हारा'। निराला को लगता है कि उस निराकार की ही हार हो गई— 'कैसे हुई हार तेरी निराकार (अर्चना)। तुलसीदास की 'चिंता' निराला के यहां 'हार' में बदल गई। शरणागति और संशय का यही द्वन्द्व निराला की विनयभावना में भक्ति संवेदना का रचनात्मक विस्तार है। निराला अतीत से मूल्यवान और रचनात्मक चीजें ग्रहण करते हैं; पिष्टपेषण उनका उद्देश्य नहीं। उन्हें यह महसूस होता है कि सूर, तुलसी की भक्ति 'आधुनिकों की रुचि के अनुकूल' नहीं है। कबीर की भक्ति को वे आधुनिक मन के अनुकूल पाते हैं। लेकिन जहां 'उस पार' एवं 'निराकार' की हार की चर्चा है, वहां कबीर की भक्ति पद्धति पर भी उनका संशय स्पष्ट हो जाता है। उन्हें राम के चरित्र में बदलाव की जरूरत महसूस होती है— ".....

... सौ फीसदी जनता को भगवान् श्रीरामचन्द्र पर, उनके जन्म-कर्मादि पर पूरा-पूरा विश्वास है। अतः आज यदि राम के विरोध में कोई प्रासंगिक बात भी कही जाय, तो जनता उसे सुनने को तैयार नहीं; साहित्यिकों में केवल सुनने का धैर्य है, मत बदलने की शक्ति नहीं। यह अवश्य ही युगों की संचित साहित्यशक्ति का ही दौर्बल्य है।" (निराला रचनावली खण्ड-5, पृष्ठ-502)। राम के प्रति उनका दृष्टिकोण उलटबांसी के रूप में भी प्रकट हुआ है— 'राम अहिरावण हुआ है' (आराधना)। तुलसीदास और निराला के राम का तुलनात्मक अध्ययन दिलचस्प हो सकता है।

रूप-अरूप, सीम-असीम की व्याख्या निराला की काव्य-दृष्टि की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। भक्ति साहित्य में इसका द्वन्द्वात्मक निरूपण व्यापक स्तर पर हुआ है। निराला को यह पद्धति संदर्भवान लगती है। इसके द्वारा वे विभिन्न कवियों एवं साहित्यिक प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते हैं। यहाँ भी उनपर मुख्य प्रभाव गोस्वामी तुलसीदास का ही है। निराला के यहाँ इसके मूल में मुक्तिचेतना है— "साहित्य की मुक्ति उसके काव्य में दीख पड़ती है। इस तरह जाति के मुक्तिप्रयास का पता चलता है। धीरे-धीरे चित्रप्रियता छूटने लगती है। मन एक खुली हुई प्रशस्त भूमि में विहार करना चाहता है। चित्रों की सृष्टि तो होती है, पर वहाँ उन तमाम चित्रों को

अनादि और अनन्त सौन्दर्य में मिलाने की चेष्टा रहती है। बर्फ में जैसे तमाम वर्णों की छटा, सौंदर्य आदि दिखाकर उसे फिर किसी ने वाष्प में विलीन कर दिया हो या असीम सागर में मिला दिया हो। साहित्य में इस समय यही प्रयत्न जोर पकड़ता जा रहा है, और यही मुक्ति प्रयास के चिह्न भी हैं ..... इस तरह चित्रों की सृष्टि असीम सौन्दर्य में पर्यवसित की जाती है, और यही जाति के मस्तिष्क में विराट् दृश्यों के समावेश के साथ-ही-साथ स्वतंत्रता की प्यास को भी प्रखरतर करते जा रहे हैं" (निराला रचनावली-1, पृष्ठ-427)। कहना न होगा कि भक्ति साहित्य में भी सीम-असीम, रूप-अरूप की द्वन्द्वात्मकता के पीछे मूल दृष्टि मुक्ति चेतना की ही है। 'ज्ञान' को लेकर निराला के आग्रह के बारे में भी यही कहा जा सकता है। रामविलास शर्मा के अनुसार- "तुलसीदास की परम्परा से आधुनिक साहित्य का संबंध कैसे जोड़ना चाहिए, यह निरालाजी ने अपने काव्य और लेखों से अच्छी तरह प्रकट कर दिया है। तुलसी की भक्ति का आधार ज्ञान है। वह भक्त होने के साथ दार्शनिक कवि भी हैं" (रामविलास शर्मा, परम्परा का मूल्यांकन, पृष्ठ-73)। यहाँ उल्लेखनीय है कि 'ज्ञान' के प्रति वैसा आग्रह तुलसीदास के यहाँ नहीं है, जैसा निराला के यहाँ। निराला ने तुलसीदास की जो व्याख्या की है, उसपर कई जगह कबीर का प्रभाव दिखाई पड़ता है। निराला तुलसीदास को केन्द्र में रखकर साहित्य की विविध परम्पराओं और कवियों का मूल्यांकन करते हैं। इस मूल्यांकन में कहीं तुलसीदास का विस्तार दूसरे कवियों तक होता है, तो कहीं दूसरे कवियों में तुलसीदास की परम्परा और छवि दिखायी पड़ती है। इन सबसे प्रतिक्रिया करते हुए निराला तुलसीदास की विशिष्ट छवि निर्मित करते हैं जो एक तरह से उनकी अपनी आदर्श छवि है।

तुलसीदास और निराला की परवर्ती रचनाओं में यथार्थोन्मुख चेतना का व्यापक विकास हुआ है। यह चेतना गहरी आत्मीयता के साथ अभिव्यक्त हुई है। यहाँ शरणागति की भावना गहरी और यथार्थबोध में विरोध नहीं है; बल्कि दोनों एक दूसरे को पुष्ट करते हैं। मार्क्स का यह कथन इसकी विवेचना में सहायक हो सकता है कि- "धार्मिक वेदना एक साथ ही वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति और वास्तविक वेदना के विरुद्ध विद्रोह भी है" (नन्द किशोर नवल (सम्पादक), निराला रचनावली खण्ड-2 की भूमिका, पृष्ठ-18)। 'मानस' रचना का संदर्भ भी 'हिय हेरि' है, लेकिन यहाँ हर्ष भी साथ है- 'धरेउ नाम हियँ हेरि हरषि हर।' 'विनयपत्रिका' के 'हिय हेरि' का अर्थ 'हिय हारि' 'हिय हहरि' और 'हिय दहत' है। इसी प्रवृत्ति का विकास 'कवितावली' और 'हनुमान बाहुक' में हुआ है। तुलसीदास की रचनायात्रा का यह दूसरा पड़ाव है। सब कुछ- आत्मसंघर्ष, परम्परा बोध, मुक्ति की कामना, लोकमंगल की भावना-इस दूसरी 'हिय हेरि' में पर्यवसित हो जाते हैं। निराला की रचनाओं के पर्यवसान के विषय में दूधनाथ सिंह ने जिस 'निष्काम पावनता' और 'सनातन मौन' की चर्चा की है, उसकी झलक तुलसीदास में भी मिलती है। 'विनयपत्रिका' इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है।

निराला की परवर्ती रचनाओं ('अणिमा से लेकर 'सान्ध्यकाकली' तक) में 'नये ढंग के यथार्थवाद' की शुरुआत हुई है। यहाँ निराला का भावोद्भव सामान्य से विशेष हुआ है। गहरी आत्मीयता एवं करुणा हर जगह दिखायी पड़ती है। तुलसीदास की तरह ही 'हिये के प्यार बने तुम' (बेला) और 'प्यार की थाती यह पाती' में आत्मसंघर्ष, मुक्तिचेतना सब कुछ घुलता हुआ नजर आता है। यहाँ आधार रूप में विनयगीत है — 'हिये के प्यार' की सघनतम अभिव्यक्ति इन गीतों में हुई है। "समय के वृहत्तर सामाजिक यथार्थ से टकराते हुए भी निराला प्रमाणित करते हैं कि अकेलेपन या निस्संगता का एक अपना अनुभव, अपना अर्थ बचा रह गया है। अत्यन्त उलझाव भरे जटिल अप्रत्याशित तनावों के बीच उनकी चमक का आभास निराला के पाठक बराबर पाते हैं। कहा जा सकता है कि वही उनके अनुभवों की दुनिया में और गहरे ले जाता है" (परमानन्द श्रीवास्तव—निराला, पृष्ठ—35)। निराला के विनयगीत उपर्युक्त दोनों कार्य एक साथ करते हैं। इन गीतों को 'नये ढंग के यथार्थवाद' के केन्द्र में रखा जा सकता है।

तुलसीदास 'श्रीरामचरितमानस' दुबारा नहीं लिख सकते थे। उन्होंने 'विनयपत्रिका' लिखी। निराला भी अपने अंतिम चरण में 'राम की शक्तिपूजा' नहीं लिख सकते थे। उन्होंने भी 'आधुनिक काल की विनयपत्रिका' ('अणिमा' से 'सान्ध्यकाकली' तक के विनयगीतों के रूप में) लिखी। यह निराला की 'दूसरी रामायण' है, जिसको खड़ी करने का आग्रह जगह—जगह प्रकट हुआ है। यह रामायण 'राग रंग' और 'दुःख की गाथा से' लिखी गयी है जिसमें 'कृष्णायण' और 'कामायण' भी है। आधुनिक काल के इतिहास में यह निराला का मौलिक योगदान है।

'रामचरितमानस' के विराट् रूपक में तुलसीदास ने एक—एक कर बताया है कि मानस के अवयवों का क्या अर्थ है— 'सुकृत पुंज मंजुल अलि माला। ग्यान बिराग बिचार मराला।।'। लेकिन इस विराट्ता में तुलसीदास का क्या है? इस पर एक पंक्ति मिलती है—

आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी।।

प्रस्तुत शोध—प्रबंध के विषय में शोधार्थी ऐसा ही आत्मनिवेदन कर सकता है ?